10_satish_done:Layout 1 11-03-2020 13:58 Page 135

मेरी अंग्रेज़ी की कहानी

सतीश देशपाण्डे

अनुवाद : नरेश गोस्वामी

अंग्रेज़ी जातिगत विशेषाधिकारों को मज़बूत करती है, वर्गीय गतिशीलता के नियम तय करती है और व्यक्ति को एजेंसी से लैस करती है। क्या अंग्रेज़ों के सामाजिक इतिहास का कोई आत्मकथात्मक आयाम उसकी इस भूमिका की ख़बर दे सकता है? प्रस्तुत निबंध में इसी जोखिम से मुठभेड़ करने की कोशिश की गयी है।

1

जहाँ तक मुझे याद पड़ता है, यह सिलसिला 'सिमिलर' (सदृश्य) शब्द से शुरू हुआ था। उस वक़्त मैं सात का और मेरा छोटा भाई चार साल का था। उन दिनों हम आज के छत्तीसगढ़ (तत्कालीन मध्य प्रदेश) के एक छोटे से क़स्बे दल्ली राजहरा में रहते थे जिसे अपनी खदानों के लिए जाना जाता था। मेरे पिता वहाँ एक सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनी में इंजीनियर थे।

हमारे घर से अगले मकान में सिद्दीक़ी परिवार रहता था। पति-पत्नी निस्संतान थे। वे हमें बड़े प्यार से घर बुलाते थे। उनकी बैठक में धातु की बनी एक आयताकार फ़ोल्डिंग मेज़ थी। ठीक ऐसी ही एक मेज़ हमारे यहाँ भी थी। समुद्र की सतह जैसी नीली चित्तीदार सतह और ट्यूब के फ़्रेम वाली यह मेज़ उन दिनों फ़ैशन में थी।

10_satish_done:Layout 1 11-03-2020 13:58 Page 136

बहरहाल, एक शाम जब सिद्दीक़ी साहब के यहाँ मेहमान चाय पी रहे थे तो पता नहीं कैसे बातचीत मेज़ के बारे में होने लगी। मैंने वहाँ बैठे लोगों के सामने ऐलान किया कि ऐसी ही एक मेज़ हमारे यहाँ भी है। यह बातचीत उसी ज़ुबान में चल रही थी जिसमें लोगबाग हिंदी के साथ अंग्रेज़ी के शब्द धड़ल्ले से इस्तेमाल करते हैं। हालाँकि मुझे यह तो याद नहीं है कि मैंने ठीक-ठीक क्या कहा था, लेकिन मैंने अंग्रेज़ी में एक पूरा वाक्य बोलते हुए उसमें 'सिमिलर' शब्द का इस्तेमाल किया था। मेरा वाक्य सुन कर सिद्दीक़ी साहब, जो हमेशा ही मुझसे बेहद लाड़ करते थे, ख़ुशी से झूम उठे। उनके मेहमान भी थोड़े भौचक्के हो गये। मुझे याद है कि यह देख कर मैं ख़ुश भी हुआ और थोड़ा शरमा भी गया। मेरे लिए यह एक सुखद अनुभव था। मैं इतना ख़ुश था कि तुरंत दौड़ा-दौड़ा घर गया और माँ के सामने सारी बात कह डाली। मैं भावविभोर था और अपने घर में बोली जाने वाली एकमात्र ज़ुबान— कन्नड़ में बोले जा रहा था। शुरू में माँ को कुछ समझ ही नहीं आया कि मैं क्या कह रहा हूँ। जैसा कि हमारे माता-पिता अकसर करते हैं, उसे लगा कि मैं सिद्दीक़ी साहब के यहाँ कुछ गड़बड़ कर आया हूँ जिसके लिए उन्हें माफ़ी माँगनी पड़ेगी। लेकिन, आख़िर में उन्हें यह बात समझ आ गयी कि दरअसल मैंने उनका नाम ऊँचा किया है क्योंकि मैं अंग्रेज़ी का एक ख़ास शब्द जानता हूँ।

दार्शनिक कहते हैं कि दुनिया में हमारी आदि और सबसे बुनियादी धरोहर भाषा होती है। सच यही है कि हमें हमारी दुनिया भाषा के ज़रिये ही मिलती है। एक निश्चित अर्थ में यह भी कहा जा सकता है कि भाषा ही दुनिया होती है। लेकिन, स्वतंत्र भारत में 'अंग्रेज़ी' केवल या महज़ एक भाषा नहीं है। वह एक तरह की हैसियत या अधिकार-सम्पन्नता की ओर इंगित करती है और साथ ही कुछ हासिल करने की बेचैनी का भी बयान करती है। वह हमारी हैसियत से जुड़ी अंतहीन दर्जाबंदियों की बारीक रंगतों का बेहद सटीक हुलिया भी खींचती है। हमारे बाज़ार में सबसे ज़्यादा बिकने वाली चीज़ भी 'अंग्रेज़ी' ही है। यह एक ऐसी चीज़ है जो इंटरनेट से लेकर, हाइवे पर लगे विज्ञापनों (व्यावसायिक डिप्लोमा और स्वर्ण आभूषणों के साथ); दीवारों पर चस्पाँ विज्ञापनों (सेक्स-क्लीनिकों और शादी करवाने वाले बिचौलियों) तक— हर जगह बेची जाती है।

समकालीन भारत में अंग्रेज़ी एक जटिल और अंतर्विरोधी परिघटना है— वह एक ही समय पर परायी भी है और परिचित भी है, दमन का स्रोत होने के साथ-साथ मुक्ति का गलियारा भी है, उसका औज़ार की तरह भी इस्तेमाल किया जाता है और वह एक प्रतीकात्मक महत्त्व भी रखती है। इसकी कहानी में इतनी परतें और इतनी भिन्नताएँ हैं कि उन्हें किसी एक अनुशासन या विधा में बाँध कर नहीं रखा जा सकता।

मुझे इस बात का एहसास बहुत बाद में जा कर हुआ कि इन कहानियों में एक कहानी मेरी भी हो सकती है। उन दिनों मैं एक अंग्रेज़ीभाषी देश में रह रहा था। कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय में पीएचडी के विद्यार्थी और अध्यापन-सहायक के तौर पर अपने पहले ही साल में मेरी भेंट प्रशंसा की इस बौछार से हुई कि मेरी अंग्रेज़ी कितनी अच्छी है। मेरे गुरु लोग, स्नातक बन चुके दोस्त और अभी स्नातक होने की तैयारी में लगे छात्रगण— जिन्हें हम पढ़ाया करते थे, मेरी अंग्रेज़ी को 'धाकड़' और 'प्रचण्ड' आदि कहते थकते नहीं थे। लेकिन ख़ुश होने के बजाय मैं इस प्रशंसा से चिढ़ने लगा। आख़िर में जब यह बात मुझे समझ आयी तब तक मेरी खीझ ग़ुस्से में बदल चुकी थी।

पानी सिर के ऊपर तब गुज़रा जब एक दिन दोपहर के वक़्त मैं शहर के केंद्रीय बस स्टॉप पर कैंपस जाने वाली बस का इंतज़ार कर रहा था। मुझसे एक संजीदा और समृद्ध दिखाई देता श्वेत युवक बात करने लगा। मैं उसकी बातों पर ख़ास ध्यान नहीं दे रहा था। लेकिन, तभी उसने अचानक पूछा : 'आप इतनी अच्छी अंग्रेज़ी कैसे बोल लेते हैं?' बस उसका यह पूछना था कि मेरा सारा जमा हुआ ग़ुस्सा भड़क गया। मैंने उसकी तरफ़ देखा और उससे सख़्त व तंज़िया लहज़े में पूछने लगा : 'क्या तुमने कभी इस बारे में सोचा है कि तुम अंग्रेज़ी क्यों बोलते हो? क्या तुम्हें पता है कि अमेरिकी

10_satish_done:Layout 1 11-03-2020 13:58 Page 137

कांग्रेस के एक सत्र में जर्मन केवल एक वोट के अंतर से ही अमेरिका की राजभाषा बनते-बनते रह गयी थी? क्या तुम्हें मालूम है कि सन् 2000 तक आते-आते स्पानी अंग्रेज़ी को पछाड़ कर कैलिफ़ोर्निया की सबसे ज़्यादा बोली जाने वाली भाषा बन सकती है? क्या तुम यह जानना चाहोगे कि भारत में अंग्रेज़ी अठारहवीं सदी की शुरुआत से ही, लगभग तब से ही जब से अमेरिका में, बोली जाती रही है? मेरी औचक प्रतिक्रिया से वह भौचक्का रह गया था। ख़ैरियत यह रही कि इस दौरान हमारी बस आ गयी और वह बेचारा मेरे इस निहायत ग़ैर-ज़रूरी हमले से बच गया!

कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय में पीएचडी के विद्यार्थी और अध्यापन-सहायक के तौर पर अपने पहले ही साल में मेरी भेंट प्रशंसा की इस बौछार से हुई कि मेरी अंग्रेज़ी कितनी अच्छी है। मेरे गुरु लोग, स्नातक बन चुके दोस्त और अभी स्नातक होने की तैयारी में लगे छात्रगण— जिन्हें हम पढ़ाया करते थे, मेरी अंग्रेज़ी को 'धाकड़' और 'प्रचण्ड' आदि कहते थकते नहीं थे। लेकिन ख़ुश होने के बजाय मैं इस प्रशंसा से चिढ़ने लगा। आख़िर में जब यह बात मुझे समझ आयी, तब तक मेरी खीझ ग़ुस्से में बदल चुकी थी।

बस का आना मेरे लिए भी अच्छा रहा। उस बेतुके ग़ुस्से के चक्कर में मैं कुछ बेईमानी भी कर बैठा था। मैंने अपनी विकट लफ़्फ़ाजी में जो सवाल दागे थे, वे पूरी तरह झूठे थे। जर्मन भाषा के संदर्भ में केवल इस मुद्दे पर वोटिंग हुई थी कि क्या सरकार के कुछ दस्तावेज़ों का जर्मन में अनुवाद कराया जाना चाहिए। स्पानी के बारे में मेरा दावा पूरी तरह अतिरंजित था क्योंकि कैलिफ़ोर्निया में स्पानी बहुसंख्यक-भाषा 2014 में जा कर बन पायी। इसके अलावा भारत में अंग्रेज़ी के प्रचलन के बारे में तो मेरा कथन एकदम ऊलजलूल था क्योंकि भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के अंग्रेज़ीभाषी कर्मचारियों की मौजूदगी का यह क़तई मतलब नहीं था कि 'भारत में अठारहवीं सदी के दौरान अंग्रेज़ी बोली जाती थी।'

मैं ख़ुद पर शर्मिंदा था। मुझे अपने भीतर झाँकने की ज़रूरत थी। मैं एक आदमी के सवाल पर इतना क्यों बिफर गया था जब कि आठवें दशक के मध्यवर्ती दौर में भारत से नितांत अपरिचित उस आदमी का यह सवाल पूछना एकदम जायज़ था? ज़ाहिर है कि अजब ढंग से धाराप्रवाह और विचित्र उच्चारण के साथ अंग्रेज़ी बोलने वाले एक गेहुँए रंग वाले व्यक्ति की यह अंग्रेज़ी बाक़ी भूरे, काले, पूर्वी एशियाई और श्वेत लोगों की अंग्रेज़ी से अलग थी। और यह बात खुलासे की दरकार रखती थी। मुझसे बात करने वाला वह मासूम अमेरिकी मेरी अंग्रेज़ी की कहानी इसलिए सुनना चाहता था कि उसके अमेरिकी नज़रिये में वहाँ उसे कुछ कौतुक जैसा दिखाई दे रहा था।

लेकिन, इससे मेरा ग़ुस्सा और अबूझ हो गया। मामला मुश्किल और असहज तो पहले से ही था, लेकिन जब मैं और गहराई में गया तो मेरा सामना अपने भीतर बैठी कहीं ज़्यादा शर्मनाक सच्चाई से हुआ। मुझे अपनी अंग्रेज़ी की तारीफ़ सुनना इसलिए बुरा लगता था कि लोगों को यह उम्मीद नहीं थी कि कोई ऐसी अच्छी अंग्रेज़ी भी बोल सकता है। बिना लाग-लपेट कहूँ तो मेरे क्षोभ का कारण यह था कि वे लोग मेरी सामाजिक हैसियत पर ध्यान नहीं दे रहे थे— वे मुझे कमतर हैसियत में रखना चाह रहे थे। ज़ाहिर है कि मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था। यह एक घटिया बात थी क्योंकि इसमें यह अतार्किक अपेक्षा निहित थी कि विदेशी लोग भी हैसियत के उन्हीं निशानों को पहचान सकें जिन्हें भारत में लोगबाग बग़ैर कोई ख़ास कोशिश किये स्वत: जान लेते थे। मुझे इस चीज़ ने इसलिए भी व्यग्र कर दिया था क्योंकि मैंने ख़ुद को 'हैसियत के पचड़ों' और 'अहंकार की भावना' से परे मान लिया था। इस तरह, मैं सराहना और सवालों का जवाब औपचारिक शिष्टता से देने लगा, और मुझे

10_satish_done:Layout 1 11-03-2020 13:58 Page 138

लगा कि मेरी कहानी अब अपने उपसंहार पर पहुँच गयी है। लेकिन दस साल बाद वापस भारत लौटने पर मैंने एक ऐसी कहानी पढ़ी जिसने मेरी अंग्रेज़ी की कहानी को दुबारा खोल दिया।

2

मराठी की प्रसिद्ध लेखिका, दलित-नारीवादी विदुषी, एक्टिविस्ट तथा संस्कृत की प्रोफ़ेसर कुमुद पावड़े के एक चर्चित निबंध का शीर्षक है— 'मेरी 'संस्कृत' की कहानी' (मराठी में 'माइया संस्कृत ची कथा')। यह निबंध मूलत: प्रोफ़ेसर पावड़े की आत्मकथा— *अंत:स्फोट* का तीसरा अध्याय था।[1] दलित-नारीवादी लेखन में इस आत्मकथा को मील का पत्थर माना जाता है।

लेखिका ने स्वीकार किया है कि इस निबंध के अंग्रेज़ी अनुवाद के बाद लोगों की न केवल *अंतस्फोट*[2] में दिलचस्पी बढ़ी, बल्कि इसके ज़रिये उन्हें अंतर्राष्ट्रीय पाठकों तक पहुँचने का भी मौक़ा मिला। कुमुद पावड़े (शादी से पहले सोमकुवर) बचपन से ही संस्कृत की विद्वान बनने का सपना देखती आयी थी। अपनी इस आत्मकथा में कुमुद बताती हैं कि संस्कृत सीखने की प्रक्रिया में उन्हें किस तरह के जातिगत पूर्वग्रहों का सामना करना पड़ा। पाँचवें दशक के नागपुर में किसी महाड़ लड़की के लिए संस्कृत सीखना एक निषिद्ध काम था— उस समय संस्कृत केवल भाषा, अकादमीय अनुशासन या व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा नहीं हुआ करती थी। बमुश्किल दस पन्नों के उस छोटे से निबंध में पावड़े बचपन में उपनयन संस्कार के समय सुने गये मंत्रों की विस्मयकारी ध्वनि से लेकर संस्कृत में विशिष्ट प्रवीणता के साथ एमए करने और अंतत: केंद्रीय सरकार के कैबिनेट मंत्री तथा महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री के हस्तक्षेप के बाद एक राजकीय कॉलेज में प्रवक्ता का पद हासिल करने के सफ़र बयान करती हैं। यह उथल-पुथल और अवरोधों से भरी एक ऐसी कहानी है जिसमें ग़ैर-दलित जातियों, ख़ासतौर पर ब्राह्मणों द्वारा किये गये उपहास और हिक़ारत की बदनुमा यादें भी शामिल हैं। संघर्ष की इस गाथा में विश्वविद्यालय के एक प्रसिद्ध प्रोफ़ेसर की ज़हरीली भद्रता भी ख़ास जगह रखती है। लेकिन इस कथा में उन्होंने स्कूल में पढ़ाने वाले एक अन्य ब्राह्मण अध्यापक के सक्रिय प्रोत्साहन, स्नातक स्तर पर अध्यापकों की निष्पक्षता और ईमानदारी, बहुत से ग़ैर-दलित लोगों की शुभेच्छाओं तथा अपने परिवार व समुदाय के सहयोग का भी उल्लेख किया है।

स्पष्ट है कि 'मेरी 'संस्कृत'-गाथा' का देशकाल संस्कृत के बजाय जाति पर केंद्रित है। सच्चाई यह है कि 'टेस्टिमोनियो' (यानी 'साक्षी' अथवा स्वानुभूति-प्रेरित गवाही) के एक दावेदार के तौर पर *अंत:स्फोट* केवल (या मात्र) कुमुद पावड़े की आत्मकथा ही नहीं है— यह एक समुदाय के भोगे हुए जीवन का आत्मकथात्मक या प्रामाणिक दस्तावेज़ है। अपने मिज़ाज में टेस्टिमोनियो 'प्रतिरोध के साहित्य' का अंग है जो अब तक ख़ामोश और दमित रहे समुदाय के अनुभवों को वाणी देता है।[3] वह अपनी नुमाइंदगी के ज़रिये साहित्य की वर्चस्वी रूढ़ियों को चुनौती देता है और समुदाय की नैतिक दावेदारी इस नुमाइंदगी को जायज़ ठहराती है।

---

[1] *अंत:स्फोट* पहली बार अंगद प्रकाशन, औरंगाबाद द्वारा 1981 में प्रकाशित की गयी थी. इसके मूल संग्रह में नौ निबंध थे. किताब का दूसरा विस्तृत संस्करण 1995 में आया जिसमें तीन निबंध अलग से जोड़े गये थे. इसका तीसरा संस्करण 2013 में सुगवा प्रकाशन, पुणे से छपा था. प्रस्तुत लेख में मैंने इसी तीसरे संस्करण का इस्तेमाल किया है.

[2] 'द स्टोरी ऑफ़ माय संस्कृत' का अंग्रेज़ी, स्वीडिश और जर्मनी (पावड़े, 2013 : 8) के अलावा उर्दू, हिंदी, गुजराती, राजस्थानी, मलयालम, तेलुगु और अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद हो चुका है. अधिकांश ग़ैर-मराठी पाठकों का इससे प्रिया अडरकर के उस अंग्रेज़ी अनुवाद के ज़रिये परिचय हुआ होगा जो पहली बार मराठी दलित साहित्य के अर्जुन डांगले द्वारा तैयार किये गये उत्कृष्ट संचयन *पॉयजन्ड ब्रेड* (डांगले, 1992) में संग्रहीत किया गया था. मैंने यहाँ इस किताब के उसी अंग्रेज़ी संस्करण का उपयोग किया है.

[3] पावड़े ने किताब के दूसरे संस्करण की भूमिका में स्पष्ट कहा है कि यहाँ निजी अनुभवों को आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है, लेकिन इसके बावजूद किताब को आत्मकथा नहीं माना जाना चाहिए. उनका ज़ोर इस तथ्य पर है कि यह बात दलित लेखकों द्वारा लिखे गये सभी आख्यानों पर लागू होती है. कुमुद पावड़े (2013) : 4-5.

10_satish_done:Layout 1 11-03-2020 13:58 Page 139

अपने राजनीतिक मंतव्य के अनुरूप कुमुद पावड़े अपनी दलित अस्मिता तथा 'संस्कृत' में निहित ब्राह्मणवादी तात्त्विकता के दरमियान मौजूद उस तनाव पर उँगली रखती हैं और इस प्रक्रिया में एक ऐसा सशक्त पाठ रचती हैं जो जातिगत भेदभाव की आँखों में आँख डाल कर सवाल करता है।

मेरी अंग्रेज़ी और संस्कृत के संबंध में उनके निहायत अलग क़िस्म के अनुभवों के बीच कहीं कोई साझा सूत्र भी हो सकता है— इस सम्भावना का एहसास मुझे धीरे-धीरे हुआ। हम दोनों के व्यवहार में साझी बात यह थी कि तारीफ़ के मामले में हम दोनों की प्रतिक्रिया ख़ासी अजीब-सी थी। कुमुद पावड़े अपने निबंध के पहले दो पन्नों (या लगभग एक चौथाई हिस्से) में बताती हैं कि जब लोगबाग उनकी संस्कृत की प्रशंसा करते थे तो उन्हें यह प्रशंसा 'गर्म सलाख़ों', कुकुरमाछी के डंक या अंगारे सरीखी लगती थी। इसकी वजह यह थी कि ऊँची जाति के लोगों से मिलने वाली यह प्रशंसा अपने लपेटे में उनके उच्चारण, पाक-कला और उनके 'ब्राह्मणी सुसंस्कृतपन' को भी ले लेती थी, और अंततः एक दलित के तौर पर उनकी जातिगत अस्मिता और उनके अप्रत्याशित 'सुसंस्कृतपन' को एक 'भयानक विसंगति' के रूप में देखती नज़र आती थी।

मेरी खीझ का सबब इससे उलट था। मुझे अपनी तारीफ़ पर इसलिए खीझ होती था क्योंकि मुझे लगता था कि मेरी सामाजिक हैसियत को कमतर करके आँका जाता था। उस वक़्त मुझे इसमें जाति का कोई कोण नज़र नहीं आता था; पावड़े की तरह इसे देखकर मुझे उबकाई भी नहीं आती थी। लेकिन, अनुभव की समानता के लिहाज़ से यह दूरस्थ प्रतिध्वनि भी कई तरह के सवालों की ओर ले जा रही थी।

अगर हम यह मान लें कि विशेषाधिकार के लाभ और पूर्वग्रह की क़ीमत एक ही सिक्के के दो पहलू होते हैं तो क्या जिस तरह पूर्वग्रह की काट के लिए मुक्तिकारी संघर्ष शुरू किये जाते हैं, उसी तरीक़े से विशेषाधिकार के क्रमिक ब्योरे भी दर्ज किये जा सकते हैं? क्या मैं ब्राह्मण के रूप में पैदा होने वाला एक पुरुष अपनी अंग्रेज़ी की कहानी को कुछ इस तरह बयान कर सकता हूँ कि उसमें मेरा जातिजन्य विशेषाधिकार ठीक उसी तरह उभर आये जिस तरह एक दलित जाति में पैदा हुई स्त्री— कुमुद पावड़े की संस्कृत सीखने की कहानी में उसके द्वारा झेला गया जातिगत भेदभाव उभरता चला आता है? अंततः मुझे समझ आया कि असल में यही वह मुश्किल और जोख़िम भरा सवाल है जिसे मैं पूछना चाहता था।

इस सवाल की मुश्किल यह है कि वह विशेषाधिकार के ज़रिये हासिल किये गये समावेशन तथा पूर्वग्रह को आधार बनाकर किये जाने वाले बहिष्करण के बीच संगति स्थापित नहीं कर सकता। हालाँकि सामान्य अर्थ में यह बात सच है कि जाति एक संबंध की ओर संकेत करती है और इस नाते उससे जुड़े विशेषाधिकार या उससे पैदा होने वाली असुविधाएँ अंततः प्रति-संतुलित होकर रह जाती हैं। लेकिन, जहाँ तक व्यक्ति के निजी अनुभव की बात है तो ऐसी स्थिति अकसर आ ही नहीं पाती। मसलन, जब नीची जाति के व्यक्ति को अपनी जाति के कारण अपमान सहना पड़ता है तो उसके इस अपमान से ऊँची जाति के व्यक्ति की प्रतिष्ठा में तत्काल या हमेशा उसी अनुपात में इज़ाफ़ा नहीं होता। अगर कहीं किसी का समकक्ष व्यक्ति मौजूद हो तब भी दोनों के बीच समानुरूपी लेकिन उलट संगति स्थापित करना मुश्किल होता है। कुल मिला कर, विशेषाधिकार जिस तरफ़ इंगित करता है वह असुविधाओं की अनुपस्थिति से कुछ ज़्यादा होता है। वह अपने सामान्य विपर्यय से भी कोई अलग चीज़ होता है।

इस सवाल का अंतर्निहित ख़तरा यह है कि दोनों वर्णनों के परिणाम अलग-अलग दिशाओं का रुख़ करते हैं। आधुनिकता ने एक ऐसे नज़रिये को जन्म दिया है जिसे अपना कर पीड़ित भी इस अंदाज़ में बात कर सकता है कि पीड़ित और उत्पीड़ित, दोनों बरी हो जाएँ। इसमें उत्पीड़क की पहचान लेकर चलने वाले व्यक्ति के लिए कोई समतुल्य नज़रिया मौजूद नहीं है। हमें अभी तक यह नहीं पता कि विशेषाधिकार के वृत्तांतों में अस्वीकार और अपराधबोध जैसी नाकाम अवधारणाओं से आगे कैसे बढ़ा जाए। कोई कितना भी सदाशयी क्यों न हो, विशेषाधिकार का हुलिया तैयार करते समय अस्वीकार एवं अपराधबोध से एक साथ बच पाना मुश्किल काम होता है। अगर कोई इसमें

10_satish_done:Layout 1 11-03-2020 13:58 Page 140

सफल नहीं हो पाता तो फिर इस बात की गुंजाइश बढ़ जाती है कि अंततः विशेषाधिकार का यह वृत्तांत 'प्रतिभा' के पवित्रतावादी गर्त में गिर जाएगा या इससे भी बुरी स्थिति— जाति-वर्ग की हक़दारी के जश्न में ग़र्क़ हो जाएगा। इसमें आख़िरी, लेकिन किसी भी ढंग से कम महत्त्वपूर्ण नहीं— ख़तरा यह है कि कहीं अपनी बेख़बरी के कारण यह वृत्तांत किसी और के स्पेस या वाजिब जगह को न हड़प ले। कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि विशेषाधिकार की केवल भर्त्सना की जानी चाहिए और भर्त्सना को व्यक्त करने का अवसर व अधिकार केवल उन्हीं तक सीमित रहना चाहिए जो स्वयं भुक्तभोगी हैं या उनके क़रीबी हमसफ़र रहे हैं।

लेकिन, विशेषाधिकार के वृत्तांत से जुड़ी मुश्किलों और ख़तरे का केवल वर्णन करके हल नहीं किया जा सकता, इसलिए तरीक़ा यही बचता है कि उनका मुक़ाबला किया जाए।

3

प्रशंसा के प्रति हमारी प्रतिक्रियाओं में एक अबूझ किंतु झीनी सादृश्यता के अलावा मेरी अंग्रेज़ी और कुमुद पावड़े की संस्कृत-गाथा में शायद और कोई साझी बात नहीं है। वैसे, हम दोनों की कहानी एक जैसी हो भी कैसे सकती थी? दो अलग-अलग व्यक्तियों और उनकी परिस्थितियों की प्रकट भिन्नता के अलावा इन दोनों भाषाओं में ज़मीन-आसमान का अंतर है। अंग्रेज़ी संस्कृत नहीं है; सत्य यह है कि आज अंग्रेज़ी किसी भी भारतीय भाषा से एक अलग भाषा है। इसकी वजह यह है कि अंग्रेज़ी सामाजिक महत्त्व के दो क्षेत्रों अर्थात् गतिशीलता और सामाजिक गतिशीलता के मामले में केंद्रीय स्थान रखती है। हमें यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि सामाजिक गतिशीलता यानी समय की लम्बी अवधि के दौरान व्यक्ति और समूहों की सामाजिक हैसियत में आने वाले बदलाव की प्रक्रिया का अर्थ सिर्फ़ आय और दौलत के ऊँचे पायदान पर चढ़ जाना नहीं होता। यह अनिवार्य रूप से एक ऐसी प्रक्रिया होती है जिसमें पहचान के ग़ैर-आर्थिक चिह्नक जैसे जीविका के रूप, आवासीय इलाक़ा, खान-पान की आदतें तथा जीवन-शैली के अन्य तौर-तरीक़े भी बदल जाते हैं। भाषाओं की दावेदारी या ख़ुद को उनसे अलग करने का मसला भी इसी प्रक्रिया के अंतर्गत आता है। भारत में अंग्रेज़ी का ज्ञान अर्जित करना सामाजिक गतिशीलता हासिल करने का सबसे आम तरीक़ा है।

सामाजिक विशिष्टता या श्रेष्ठता उन विभिन्न प्रक्रमों की ओर इंगित करती है जिनके तहत कोई व्यक्ति या समूह समाज के पदानुक्रम में ख़ुद को अन्य लोगों या समूहों से अलग स्थान पर रख कर देखता है। व्यावहारिक स्तर पर इसका मतलब ख़ुद को कथित तौर पर अपने से कमतर लोगों से एक ख़ास दूरी पर रखना होता है। अंग्रेज़ी का सबसे ज़्यादा इस्तेमाल सामाजिक दूरी बरतने के लिए किया जाता है। सामाजिक दूरी को ज्ञापित करने के प्रसंग में अंग्रेज़ी एक सार्वजनिक घोषणा की तरह होती है। इस तरह, गतिशीलता अथवा विशिष्टता का एकमात्र मंच न होने के बावजूद अंग्रेज़ी गतिशील या विशिष्ट होने का सबसे कारगर तरीक़ा मुहैया कराती है। सिर्फ़ इतना कह कर रुक जाना तो ज़ाहिर तथ्य को दोहराना होगा। इसलिए, अंग्रेज़ी की सत्ता को समझने के लिए कुछ ठोस विवरणों के हवाले से बात करना ज़्यादा उपयोगी होगा।

अंग्रेज़ी सिर्फ़ इस्तेमाल करने लायक़ साधन नहीं है, वह अपने आप में एक साध्य भी है। लेकिन, उसका यह पहलू अकसर दिखाई नहीं देता। उसकी एक अहम भूमिका यह है कि वह व्यक्ति के भीतर कर्तापन (एजेंसी) होने का भाव पैदा करती है। सामाजिक सैद्धांतिकी में एजेंसी एक बुनियादी पद है। वह व्यक्ति के आत्म या उस व्यक्तित्व की ओर संकेत करती है जिसे व्यक्ति अपने जीवन में अर्जित करता है और जीवन भर उसका विकास करता रहता है। एजेंसी का अर्थ यह होता है कि व्यक्ति अपने कार्यों का सूत्रधार होता है; उसके पास एक स्वतंत्र इच्छा होती है जो निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति में एक सचेत कर्म की तरह काम करती है। ज़ाहिर है कि एजेंसी का यह अर्थ सामाजिक सीमाओं

10_satish_done:Layout 1 11-03-2020 13:58 Page 141

के अधीन होता है और समाज द्वारा तय की गयीं ये सीमाएँ इस बात से तय होती हैं कि अमुक व्यक्ति समाज के किस हिस्से या स्तर पर खड़ा है। यहाँ यह कहना मुनासिब होगा कि व्यक्ति एजेंसी होने का एहसास केवल भाषा के ज़रिये ही नहीं, बल्कि भिन्न-भिन्न तरीक़ों से हासिल करता है। लेकिन, आज भारत में अकसर लोग अंग्रेज़ी के रास्ते ही अपनी एजेंसी का संधान कर रहे हैं।

अंग्रेज़ी की तीसरी जटिलता ... वह हमेशा अन्य भारतीय भाषाओं के बरअक्स खड़ी मिलती है। इस अर्थ में, अंग्रेज़ी की प्रभुता मूलतः अन्य भारतीय भाषाओं अथवा अपने ही अन्यान्य रूपों से विषमतापूर्ण संबंधों पर निर्भर करती है। लिहाज़ा, यह लगभग तय बात है कि जहाँ अंग्रेज़ी से जुड़े वृत्तांतों को कभी भी किसी अन्य चीज़ का वृत्तांत नहीं बनाया जा सकता, वहीं यह भी सच है कि अंग्रेज़ी के इन वृत्तांतों पर अन्य भाषाओं का संदर्भ हटा कर भी बात नहीं की जा सकती।

मौजूदा दुनिया में अंग्रेज़ी का भौतिक-आर्थिक महत्त्व इतना ज़्यादा है कि वह किसी की मातहत नहीं हो सकती। सच यह है कि कहानी किसी की भी हो अंततः अंग्रेज़ी की कहानी अंग्रेज़ी की चारदीवारी से बाहर नहीं जाती— उसे केवल और पूरी तरह जाति या वर्ग, गतिशीलता अथवा विशिष्टता की कहानी बनाकर पेश नहीं किया जा सकता। जबकि इसके उलट आम तौर पर आज के भारत में जाति या वर्ग तथा गतिशीलता और विशिष्टता के वृत्तांतों में अंग्रेज़ी की कलगी अनिवार्य रूप से लगी होती है।

अंग्रेज़ी से जुड़ी कहानियों की जटिलता के पीछे तीन कारण हैं। पहली जटिलता इस तथ्य से पैदा होती है कि आज अंग्रेज़ी एक वास्तविक और शक्तिशाली भारतीय भाषा बन चुकी है। यह एक अलग बात है कि वह बाक़ी भारतीय भाषाओं से निराली और अलग क़िस्म की है। उसे लेकर समाज के विभिन्न वर्गों में ही नहीं बल्कि एकल व्यक्ति और समूह की प्रतिक्रियाओं में भी अंतर्विरोध देखे जा सकते हैं। इसके चलते अंग्रेज़ी को सामाजिक मानचित्र में ठीक से चिह्नित नहीं किया जा सकता। इसे विदेशी भाषा क़रार देने से कुछ भी हासिल नहीं होता, क्योंकि इससे यह पता नहीं चलता कि हमारे समाज में वह इतनी प्रभावशाली कैसे हो गयी है। और ठीक इसी कारण के आधार पर उसे केवल एक सामान्य भारतीय भाषा मान कर रह जाना कोरी बेवक़ूफ़ी होगी।

अंग्रेज़ी की दूसरी जटिलता उसकी बहुलता से पैदा होती है। अकसर कहा जाता है कि भारत में लोगबाग अपनी अनेकानेक भाषाओं में अंग्रेज़ी बोलते हैं। लेकिन भारत में अंग्रेज़ी के विभिन्न रूपों या प्रकारों को उसकी बोलियाँ समझना ग़लत होगा। भारत में अंग्रेज़ी के विभिन्न संस्करणों की पहचान मुख्यतः उनके प्रयोग और प्रयोक्ताओं के आधार पर की जाती है। चूँकि इसका सुर केवल एक नहीं है इसलिए अंग्रेज़ी से जुड़ी कहानियों में कई परतें और अनेक स्वर होते हैं।

अंग्रेज़ी की तीसरी जटिलता इस तथ्य से उद्‌भूत होती है कि सामाजिक स्तर पर वह हमेशा अन्य भारतीय भाषाओं के बरअक्स खड़ी मिलती है। इस अर्थ में, अंग्रेज़ी की प्रभुता मूलतः अन्य भारतीय भाषाओं अथवा अपने ही अन्यान्य रूपों से विषमतापूर्ण संबंधों पर निर्भर करती है। लिहाज़ा, यह लगभग तय बात है कि जहाँ अंग्रेज़ी से जुड़े वृत्तांतों को कभी भी किसी अन्य चीज़ का वृत्तांत नहीं बनाया जा सकता, वहीं यह भी सच है कि अंग्रेज़ी के इन वृत्तांतों पर अन्य भाषाओं का संदर्भ हटा कर भी बात नहीं की जा सकती।

बहरहाल, इन तमाम जटिलताओं के बावजूद इस बात की सम्भावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि अंग्रेज़ी के वृत्तांतों का एक मुस्तैद वाचन हमें गतिशीलता, विशिष्टता या एजेंसी के अप्रकट

10_satish_done:Layout 1 11-03-2020 13:58 Page 142

पहलुओं के बारे में और ज़्यादा ख़बर दे सकता है तथा वह यह भी बता सकता है कि अस्मिता के अन्य अक्षों यथा जाति, वर्ग या क्षेत्र के साथ उनका क्या संबंध होता है।

4

मुझे इस बात का एहसास पहली बार विदेश में रहते हुए हुआ कि मेरी अंग्रेज़ी के पीछे एक कथा छिपी है। मैं यह समझ गया था कि ग़ैर-भारतीयों को इस कथा की ज़रूरत इसलिए थी क्योंकि वे इस भाषा के साथ मेरे संबंध का कारण जानना चाहते थे। उस वक़्त यह एक ऐसी कहानी थी जिसमें मुझे दूसरे लोगों के सामने कुछ खुलासा जैसा करना था। उस समय मुझे इसका कोई इमकान नहीं था कि यह कहानी मुझे भारत में भी सुनानी होगी। लेकिन कुमुद पावड़े को पढ़ कर मेरी राय निर्णायक तौर पर बदल गयी। अब मेरे वृत्तांत को किसी खुलासे की ज़रूरत नहीं रह गयी थी। मेरा वृत्तांत अब पहले से जाना और समझा ब्योरा नहीं रह गया। उसमें कह कर समझा देने का भाव ख़त्म हो गया। अब वह एक प्रस्थान-बिंदु और पिछले स्पष्टीकरणों को चुनौती देने वाले नये प्रश्नों का उत्स बन गया, जबकि इससे पहले इन स्पष्टीकरणों की सत्यता को लेकर मैं निश्शंक रहा करता था। दरअसल, मेरे लिए यह एक तरह की खोज थी जिसमें मैं अपने निजी इतिहास के ताने को अपने सामाजिक इतिहास के बाने से लिपटता देख रहा था। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण आयाम यह था कि मेरी अंग्रेज़ी का वृत्तांत अब अनभिज्ञ लोगों के लाभार्थ नहीं रह गया था; अब वह मुख्यत: मेरे और मुझ जैसे अन्य लोगों— तथा हमारी सामूहिक रूप से संस्कारित अनभिज्ञता के लिए था।

लिहाज़ा, आज जब मैं सिद्दीक़ी परिवार में गुज़री उस शाम की याद करता हूँ और उसे अपनी अंग्रेज़ी की यात्रा के प्रस्थान-बिंदु की तरह देखता हूँ तो वह मेरे विगत की बात न होकर मेरे वर्तमान के उस सुविधापूर्ण बिंदु की बात बन जाती है जहाँ से मैं अतीत को उसकी तत्कालीन अनिश्चिताओं के बग़ैर देख सकता हूँ। यह कोई उदासीन या निष्काम क़िस्म का वृत्तांत न होकर एक अभिप्रेरित वृत्तांत है जिसे लगातार संशोधित किया गया है और जिसका मीज़ान कई दफ़ा बिठाया गया है। इसमें न कोई झूठ है, न जान बूझ कर बोला गया असत्य है। लेकिन, यहाँ सचेतन या अवचेतन स्तर पर कुछ चुप्पियों और चूकों के अलावा यदा-कदा अलंकरण और सतत चयन का उपयोग ज़रूर किया गया है। संक्षेप में, यह स्वाभाविक ढंग से कही गयी कहानी के बजाय एक पूर्व-विचारित ब्योरा है। आप चाहें तो इसे सुनियोजित भी कह सकते हैं।

उस शाम की घटना को बयान करने वाले पहले परिच्छेद का शुरुआती मसविदा इस तरह लिखा गया था जैसे उस वक़्त मेरे पास अंग्रेज़ी के अलावा कोई अन्य भाषा थी ही नहीं। जैसा कि मौजूदा पाठ से ज़ाहिर है, सच यह है कि उस समय मेरे पास अंग्रेज़ी के अलावा दो भाषाएँ और थीं। भले ही उस घटना का नायकत्व अंग्रेज़ी या 'सिमिलर' शब्द के हिस्से में आया हो, उस समय हिंदी और कन्नड़ सहयोगी भूमिकाओं में थीं। उस दिन अंग्रेज़ी इसलिए अनन्य बन सकी क्योंकि वह दो अन्य भाषाओं के बरअक्स खड़ी थी।

अब ज़रा कल्पना करके देखिए कि अगर उस शाम सिद्दीक़ी परिवार और वहाँ आये मेहमान केवल अंग्रेज़ी बोल रहे होते या इस घटना के बारे में मैं अपनी माँ को केवल अंग्रेज़ी में बताता तो यह वृत्तांत किस तरह बदल जाता। दोनों ही मामलों में यह तय था कि मेरी यह कहानी वहाँ से शुरू नहीं होती। केवल अंग्रेज़ी बोलने वाले वयस्क लोगों का ध्यान पूरी तरह अंग्रेज़ी में बोले गये उस वाक्य पर शायद ही जा पाता— भले ही उस वाक्य को बोलने वाले लड़के की उम्र सात साल रही हो। इसी तरह, अगर मेरी माँ अंग्रेज़ी बोलना जानती तो मेरी कहानी बहुत पहले शुरू हो गयी होती।

निजी स्मृति का स्वचयनित अंश होने के कारण यह प्रस्थान किसी भी तरह कम आत्मगत या एकपक्षीय नहीं हो जाता। इस चयन के साथ यह विडम्बना भी जुड़ी है कि इसकी प्रशंसा की गयी

10_satish_done:Layout 1 11-03-2020 13:58 Page 143

थी। सात साल का बच्चा अपनी अंग्रेज़ी की प्रशंसा सुनकर ख़ुशी से भर गया है, जबकि सत्ताइस साल का नौजवान क्रुद्ध और क्षुब्ध हुआ है। यह अंतर आपको यह बताता है कि मेरी जाति और वर्ग की पृष्ठभूमि के लोगों के लिए अंग्रेज़ी हैसियत का निशान होती है। इससे यह भी पता चलता है कि इन घटनाओं को अलग करने वाले दो दशकों के दौरान मेरी हैसियत में क्या महत्त्वपूर्ण बदलाव आये थे। लेकिन, मेरा यह व्यक्तिगत बदलाव जिसे मैंने निजी स्तर पर महसूस किया है, मेरे परिवार की प्रगति के बृहत्तर पथ से ही जुड़ा था। मैंने अपनी अंग्रेज़ी का वृत्तांत परिवार के इतिहास में ढूँढ़ना शुरू किया और फिर महसूस किया कि अंग्रेज़ी का यह वृत्तांत असल में गतिशीलता का वृत्तांत था।

मुझे अंग्रेज़ी विरासत में नहीं मिली, बल्कि मुझे उन परिस्थितियों की विरासत मिली जिसके दम पर मैं अंग्रेज़ी का ज्ञान हासिल कर सकता था।

मैंने अपने दादा और उनके बालसखा (जो उनका कुल पुरोहित भी था) के बारे में एक ऐसे दौर की कहानी सुनी है जब दोनों एकाध साल के लिए कॉलेज के छात्र रहे थे। कहीं पर एक सार्वजनिक आयोजन था जिसमें चंद लोगों को ही अंदर आने की अनुमति थी, लेकिन वहाँ कॉलेज के विद्यार्थियों के लिए कोई रोक नहीं थी। वरिष्ठ छात्रों ने कनिष्ठ छात्रों को हिदायत दे रखी थी कि दरवाज़े पर पहुँचते ही दरबान के सामने अपना परिचय देते हुए 'स्टुडेंट' कह कर दें। लेकिन हुआ यह कि मेरे दादा और उनके मित्र को यह शब्द सही समय पर याद नहीं आ सका। सही शब्द के बजाय उनके मुँह से 'स्कूलैंट' निकला, लिहाज़ा उन्हें बाहर का रास्ता दिखा दिया गया। जीवन के सत्तरवें दशक में जब वे दोनों इस क़िस्से को याद करते थे तो इस बेवक़ूफ़ी के लिए एक-दूसरे को ज़िम्मेदार ठहराया करते थे।

असल में एक 'देशपाण्डे' (अथवा पुराने मराठा साम्राज्य के लगान-वसूली ज़मींदार) होने के नाते मेरे दादा के पास सौ एकड़ से ज़्यादा ज़मीन थी, इसलिए अपने रईसी अंदाज़ में उन्हें 'स्कूलैंट' की ज़िंदगी में कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं थी। दादा मज़े लेकर बताते थे कि जैसे ही महात्मा गाँधी ने सरकारी संस्थानों के बहिष्कार का नारा दिया तो उन्होंने झट से कॉलेज छोड़ दिया। इसे उनका दुर्भाग्य और सांसारिक बुद्धि का अभाव कहें (कई लोगों को ऐसा ही लगता था) या दम्भपूर्ण मूर्खता और लापरवाही कहें (बहुतों का यही विचार था), आज़ादी के बाद काश्तकारी और ज़मीन की हदबंदी के कारण उनकी अधिकांश ज़मीन हाथ से निकल गयी जिस पर कभी उनका पारम्परिक अधिकार रहा था। जाति और आनुवंशिकता पर आधारित भू-अधिकारों की व्यवस्था में कभी उनकी गिनती इलाक़े के रईसों में होती थी, लेकिन दादा की अधेड़ अवस्था तक आते-आते परिवार की गतिशीलता का पहिया उलटी दिशा में घूम चुका था।

मेरे पिता को अंग्रेज़ी विरासत में नहीं मिली थी, लेकिन उन्हें पेशेवर शिक्षा और इस नाते सरकारी नौकरी ज़रूर (भले ही अप्रत्यक्ष रूप से) विरासत में मिली थी। दादा ने अपने दूसरे बेटे (मेरे पिता) को इंजीनियरिंग कराने के लिए आज़ादी के बाद होने वाले भूमि-सुधार के बाद बची थोड़ी-सी ज़मीन में कुछ एकड़ ज़मीन बेच दी। कुछ बरस बाद उन्होंने सबसे छोटे बेटे को डॉक्टर बनाने के लिए थोड़ी ज़मीन और बेच डाली। इस दौरान सबसे बड़ा और तीसरा बेटा रेलवे और डाक-विभाग में छोटी-मोटी लेकिन पक्की नौकरी पाने में कामयाब हो गये थे। आख़िर तक आते-आते उनके चारों बेटे सरकारी नौकरी में आ चुके थे। इनमें तीन बेटे तो 'मूल-स्थान' से कुल पचास किलोमीटर के दायरे

10_satish_done:Layout 1 11-03-2020 13:58 Page 144

में काम कर रहे थे। इस तरह, अपने बुढ़ापे में मेरे दादा ने प्रतीकात्मक हैसियत से ही सही, परिवार की तरक़्क़ी और उसके शहरीकरण का दीदार किया।

मेरे सिविल इंजीनियर पिता के जीवन का सक्रिय समय सरकारी नौकरी में गुज़रा। अंग्रेज़ी उन्होंने हाई स्कूल और कॉलेज के दौरान सीखी। यह बड़ा कसाले का काम था। उन्हें अंग्रेज़ी की यह कृपा 'रेनेंडमार्टिन' के ज़रिये मिली जो उनकी पीढ़ी के लिए किसी धर्म-ग्रंथ की महत्ता रखती थी। इस किताब का वे अकसर ज़िक्र करते थे और बड़े भक्ति-भाव से ज़िक्र करते थे। उन्हें यह जानकर बहुत अचरज और एक हद शुबहा भी हुआ था कि उन्होंने मुझे जिस कॉन्वेंट स्कूल में अधूरे मन से पढ़ने भेजा था उसके कोर्स में यह किताब शामिल ही नहीं थी। पिता ने जब मुझे गहरे लाल रंग के आवरण वाली यह किताब की भेंट दी तो मैं शायद सातवीं या आठवीं कक्षा में था। इससे पहले मुझे यह भी नहीं पता था कि 'रेन ऐंड मार्टिन' दो अलग-अलग नाम थे या उनमें एक नाम 'डब्ल्यू' से शुरू होता था।

पिता अंग्रेज़ी जानने के हिमायती थे, लेकिन इसे लेकर वे कुछ ख़ास उत्साहित नहीं रहते थे। इसमें उनकी जो भी दिलचस्पी थी वह भाषा के बजाय उसके व्याकरण तक सीमित थी। उनके पास केवल एक क़िस्म की अंग्रेज़ी थी जिसका वे सार्वजनिक या निजी संदर्भों में बेधड़क इस्तेमाल करते थे। किशोर-वय में दाख़िल होने से कुछ पहले नौ-दस साल की उम्र की कुछ चीज़ें मुझे साफ़ याद हैं कि कुछ ख़ास अवसरों पर मुझे और मेरे भाई को कपड़े पहनाते वक़्त पिता अपनी प्रिय अंग्रेज़ी उक्तियों का अकसर प्रयोग किया करते थे। 'संडे इज़ लोंगर दैन मंडे' का मतलब यह हुआ करता था कि कच्छे का किनारा ऊपर दिखाई दे रहा है। इसी तरह, 'पोस्ट ऑफ़िस इज़ ओपन' का अर्थ यह होता था कि पैंट के बटन खुले रह गये हैं (इसके लिए ज़िप बाद में आया)। ज़ाहिर है कि हमें इस बात का ख़याल रखना पड़ता था कि संडे मंडे से ज़्यादा लम्बा न हो जाए और पोस्ट ऑफ़िस खुला न रह जाए!

ऐसे अपवादों को छोड़ दें तो जब कभी-कभार वे मुझसे अंग्रेज़ी में बात करते या चिट्ठी लिखते तो उनकी अंग्रेज़ी सरकारी फ़ार्म की तरह लगती थी। वे एक लफ़्ज़— 'दि सेम' का अकसर इस्तेमाल करते थे। कॉलेज के पहले साल के दौरान उनकी हर महीने आने वाली चिट्ठियाँ में यह वाक्य हमेशा हुआ करता था : 'लुक आफ़्टर योर हेल्थ ऐंड डू नॉट नेग्लेक्ट दि सेम' (अपनी सेहत का ख़याल रखना और उसकी अनदेखी न करना)। आज भी जब यह लफ़्ज़ मेरे सामने आता है तो अचानक मुझे स्मृति का झटका लगता है।

अंग्रेज़ी के लेंस से देखा जाए तो 'स्कूलैंट', 'दि सेम' और 'सिमिलर' जैसे शब्द मेरे परिवार की ऊर्ध्व गतिशीलता के ऊबड़-खाबड़ रास्ते पर पीढ़ीगत बदलाव के संकेत-चिह्न की तरह उभरते हैं। ऐतिहासिक समय की पदावली में कहा जाए तो इसमें पिछली सदी के चौथे दशक से सातवें दशक का वक़्त समाया है। इस वक़्फ़े के आख़िर यानी मेरी मिडिल की पढ़ाई पूरी होने तक मेरे पिता और मेरी अंग्रेज़ी के बीच कोई ख़ास अंतर नहीं आया था।

लेकिन सातवें दशक के शुरुआती दौर यानी हाई स्कूल और कॉलेज के पहले साल की अवधि में मेरी अंग्रेज़ी एक दूसरे अक्ष पर घूम गयी। इसके बाद वह मेरा एक निजी सरोकार बनती गयी और परिवार से उसका कोई ख़ास ताल्लुक़ नहीं रह गया। इसका सबसे अहम पहलू यह था कि अब वह गतिशीलता का कम एजेंसी और विशिष्टता का साधन ज़्यादा बनने लगी। और इसकी वजह यह थी कि मेरी अंग्रेज़ी में मेरे स्कूल, मेरे अध्यापकों, स्कूल और कॉलेज के पुस्तकालयों और कॉलेज के मेरे हमउम्र समूह ने ज़बर्दस्त निवेश किया था। अंग्रेज़ी के मेरे इस उद्यम में बेशक मेरी मेहनत का भी योगदान था, लेकिन यह साफ़ ज़ाहिर है कि इसके पीछे जो सांस्कृतिक पूँजी काम कर रही थी, वह कहीं बाहर से आयी थी क्योंकि उस वक़्त मेरे पास ऐसी कोई पूँजी थी ही नहीं।

भाषाई समृद्धि के इन स्रोतों और उनसे अर्जित होने वाले लाभ के बल पर मेरी अंग्रेज़ी अपने पिता की अंग्रेज़ी से जल्दी ही इतना अलग हो गयी कि वह निपट भिन्न भाषा लगती थी। यह कोई

10_satish_done:Layout 1 11-03-2020 13:58 Page 145

बाहरी बदलाव नहीं बल्कि तात्त्विक और निर्णायक बदलाव था। मेरे पिता की अंग्रेज़ी एक हुनर की तरह थी जिसे उन्होंने कड़ी मेहनत से हासिल किया था और जिसे वे किसी औपचारिक वर्दी की तरह पहनते थे। अंग्रेज़ी सीखने के लिए मैंने भी मेहनत की थी, लेकिन कॉलेज की पढ़ाई ख़त्म होते-होते मेरी अंग्रेज़ी कपड़े की हैसियत से आगे बढ़ कर खाल का दर्जा हासिल कर चुकी थी।

मुझे इस बात का एहसास दशकों बाद जाकर हुआ कि मैं अंग्रेज़ी की जिस क़िस्म में रच-बस गया था वह अपनी ही जन्मकुण्डली को विस्मृत करने की अजीब कूवत रखती थी। अपने पिता की तरह मुझे भी अंग्रेज़ी विरासत में नहीं मिली थी और इसे सीखने के लिए मैंने भी उन्हीं की तरह मेहनत की थी। लेकिन, जहाँ मेरे पिता की अंग्रेज़ी से साफ़ पता चलता था कि उसे परिश्रम से अर्जित किया गया है, वहीं मेरी अंग्रेज़ी भाषाई-अर्जन के उन चिह्नों को छिपा ले जाती थी। वह उस तंत्र पर पर्दा डाल देती थी जिसके ज़रिये उसे हासिल किया गया था। पिता की अंग्रेज़ी एक औज़ार या यंत्र की तरह बनी रही, जबकि मेरी अंग्रेज़ी चारित्रिक गुण या निजी विशेषता की तरह दिखने लगी।

मेरे पिता की अंग्रेज़ी से साफ़ पता चलता था कि उसे परिश्रम से अर्जित किया गया है, वहीं मेरी अंग्रेज़ी भाषाई-अर्जन के उन चिह्नों को छिपा ले जाती थी। वह उस तंत्र पर पर्दा डाल देती थी जिसके ज़रिये उसे हासिल किया गया था। पिता की अंग्रेज़ी एक औज़ार या यंत्र की तरह बनी रही, जबकि मेरी अंग्रेज़ी चारित्रिक गुण या निजी विशेषता की तरह दिखने लगी।

5

अपने पिता और अपनी अंग्रेज़ी का अंतर उजागर करने के लिए मुझे निजी ताने तथा सामाजिक बाने की बुनावट को अलग-थलग करना पड़ेगा। लेकिन इस क्रम में सावधानी बरतनी होगी ताकि इतिहास की बनावट के साथ कोई छेड़छाड़ न हो।

मेरी अंग्रेज़ी जब व्यावहारिक तौर पर अर्जित किये गये कौशल के बजाय मेरे नैसर्गिक गुण की तरह सामने आने लगी तो वह इस तथ्य को छिपा जाती थी कि वह मेरी जाति-वर्ग की पहचान के एक अमिट चिह्न की तरह काम कर रही थी। यह चिह्न कैलिफ़ोर्निया में सही ढंग से काम नहीं कर पाया— भारत में मेरी अंग्रेज़ी सामाजिक विशिष्टता की एक ऐसी अव्यक्त किंतु अचूक पहचान थी जिसकी ओर मेरा ध्यान भी नहीं जाता था, लेकिन कैलिफ़ोर्निया में पहचान का वह चिह्न विफल हो गया। इस कहानी का सिलसिला मेरे ज़ेहन में इसी के बाद शुरू हुआ। लेकिन, यह जान लेने के बावजूद कि मेरी अंग्रेज़ी की तारीफ़ करने वालों के प्रति मेरी खीझ का कारण मेरी हैसियत पर उठाई गयी शंकाओं में छिपा था, मैं कभी यह नहीं सोच पाया कि इस बात का संबंध मेरी जाति से भी हो सकता है। सच यह है कि जाति मेरे निजी क्षितिज का अंग थी ही नहीं; अपने हमपेशा समूह के बाक़ी सदस्यों की भाँति मैं भी अपनी सामाजिक हैसियत की व्याख्या बौद्धिक और वर्गीय मुहावरे में किया करता था।

मेरे हमपेशा समूह में अकादमीय विद्वान, एक्टिविस्ट, पत्रकार, प्रशासनिक सेवाओं के अधिकारी आदि शामिल थे। हमने भारत, इंग्लैंड व अमेरिका के इलीट संस्थानों में पढ़ाई की थी। हमारे समूह में ग़ैर-अकादमीय माने जाने वाले लोगों का भी बौद्धिक दुनिया से इतना वास्ता ज़रूर रहता था कि उन्हें वाक़ई बिना किसी ग़ुरेज़ के 'बुद्धिजीवियों' में शामिल किया जा सकता था। एकाध अपवाद को छोड़ कर हम सभी लोग 'उच्च-मध्यवर्ग' के किसी न किसी दायरे से ताल्लुक़ रखते थे। लेकिन हमें इस बात का बख़ूबी एहसास था कि हम अंग्रेज़ी बोलने वाली उस अल्पसंख्यक जमात में भी उस अभिजन समाज का अंग थे जिसे सांस्कृतिक दृष्टि से ज़्यादा उन्नत माना जाता था। हम सभी 'ऊँची

10_satish_done:Layout 1 11-03-2020 13:58 Page 146

जातियों' से संबंध रखते थे, लेकिन हमें इस बात का पूरा विश्वास रहता था कि हम जाति की पहचान से ऊपर उठ चुके हैं।

असल में, यह तथ्य— कि जाति-मुक्त होने का हमारा अडिग विश्वास स्वयं हमारी जातीय मानसिकता का लक्षण है— हमारे संज्ञान के दायरे से बाहर था। ज़ाहिर है कि एक सचेत, मुखर, सूचनाओं से लैस और सुरक्षित समूह अपनी सामाजिक पहचान से यों ही ग़ाफ़िल नहीं रह सकता था। दरअसल, यह अंधत्व प्रशिक्षण की एक समूची प्रक्रिया से आया था। अब सवाल यह उठता है कि इस प्रशिक्षण के स्रोत क्या थे?

इस सवाल के जवाब का एक हिस्सा इस तथ्य से वास्ता रखता है कि नवें दशक से पहले समाज-विज्ञान का ज्ञानलोक, ख़ास तौर पर उसके समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र जैसे अनुशासनों में जाति का अध्ययन किस तरह किया गया था। दोनों ही अनुशासनों में जाति का गहन अध्ययन किया गया, लेकिन अपने हमपेशा समूह के नज़रिये से देखा जाए तो यह प्रचुर साहित्य जाति को हमारे अपने अनुभव से दूर रखता था। कुल मिलाकर कहा जाए तो जाति पर केंद्रित यह विशेषज्ञतापूर्ण कृतित्व यह कहता प्रतीत होता था कि भारतीय समाज में जाति एक सर्वप्रमुख संस्था तो है, लेकिन उसका प्रभाव-क्षेत्र मुख्यत: ग्रामीण समाज तथा मध्यवर्ती और निम्न जातियों तक सीमित है। इस परिप्रेक्ष्य में हम जैसे लोगों ने ख़ुद को जाति के प्रभाव से साफ़ बरी कर लिया था। इसमें जब शहराती ऊँची जातियों का ज़िक्र उठता था तो समकालीन जाति का एक ऐसी जीर्ण होती संस्था के तौर पर चित्रण किया जाता था जो रोज़मर्रा के जीवन में अपना प्रभुत्व खोकर केवल निजी जीवन के कुछ सीमित क्षेत्रों में बची रह गयी है। सच यह है कि आठवें दशक के उत्तरार्ध में कुछ मानवशास्त्री तो जाति को मिलने वाली इस तवज्जो के ख़िलाफ़ बग़ावत करने लगे थे। उनका कहना था कि जाति का प्रश्न पश्चिमी सैद्धांतिकी में उस नव-प्राच्यवादी प्रवृत्ति का द्योतक है जो भारत जैसी ग़ैर-पश्चिमी संस्कृतियों को जाति के पदानुक्रम जैसी अवधारणाओं की क़ैद में रखना चाहती है।[4]

लेकिन इस जवाब का बड़ा हिस्सा आज़ाद भारत की बेशतर विरासत तथा जाति के संबंध में हमारे प्रमुख रवैये से जुड़ा है। किसी चीज़ के प्रति जो भी प्रमुख दृष्टिकोण होता है वह सामान्यत: प्रभुत्वशाली वर्ग का दृष्टिकोण होता है। यहाँ इस संदर्भ में प्रभुत्वशाली का अभिप्राय: ऊँची जातियों से है। राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व इन्हीं जातियों के हाथों में था। उसके लगभग सभी नेता भी इन्हीं जातियों से ताल्लुक़ रखते थे। इस मायने में ऊँची जातियों को ब्रिटिश राज से सत्ता बिना किसी अवरोध के विरासत में मिली थी। नेहरू की सदारत में इन जातियों ने इस धारणा का अपने बीच बढ़-चढ़ कर प्रचार किया कि अस्पृश्यता के विरुद्ध गाँधी का नैतिक अभियान एवं जाति के प्रति निरपेक्ष रवैया रखने के बावजूद संविधान में अनुसूचित जातियों तथा आदिवासियों के लिए आरक्षण की गारंटी करने के बाद जाति का प्रश्न हमेशा के लिए हल कर लिया गया है। सार्वजनिक दायरे से जाति की चर्चा बाहर कर दी गयी, लेकिन उसकी आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक बुनियाद को अस्थिर करने की कोई गम्भीर कोशिश नहीं की गयी। जाति का सिद्धांत के स्तर पर उन्मूलन कर दिया गया, लेकिन व्यवहार में उसे फलने-फूलने का ख़ूब मौक़ा दिया गया।

बीसवीं सदी के भारत में ऊँची जातियों का सबसे महत्त्वपूर्ण सरोकार यह था कि जाति का आधुनिकीकरण कैसे किया जाए। जाति-व्यवस्था में 'सुधार' करने के कई अभियान, यहाँ तक कि उसके 'उन्मूलन' करने की बात करने वाले अभियान भी आधुनिकीकरण की इसी मुहिम का हिस्सा बन गये। इस मुहिम का एक बुनियादी संघटक जाति से आबद्ध पूँजी (जैसे ज़मीन) को एक ऐसे सेकुलर-आधुनिकता आधारित कुशलता या हुनर में बदलना था जो व्यक्ति के लिए पेशेवराना तरक़्क़ी

---

[4] मिसाल के तौर पर देखें, अर्जुन अप्पादुरै (1988) : 36-49.

10_satish_done:Layout 1 11-03-2020 13:58 Page 147

की राह खोलता था और अंततः आर्थिक एवं सांस्कृतिक पूँजी की नयी क़िस्मों को जाति से विच्छिन्न कर देता था। नेहरू के युग में यह प्रक्रिया न केवल गहन हुई बल्कि इसका अभूतपूर्व विस्तार भी हुआ; ऊँची जातियों के लिए यह स्वर्ण-युग था। पाँचवें दशक के दौरान बालिग़ होने वाली पीढ़ी यानी मेरे पिता की पीढ़ी पर जाति को आधुनिक बनाने की इसी मुहिम की छाप पड़ी थी। यह एक ऐसी पीढ़ी थी जो यह विश्वास कर सकती थी कि वह अपनी जातिगत पहचान को राष्ट्र-निर्माण की उस उदारतावादी-आधुनिक परियोजना की बलिवेदी पर न्यौछावर कर रही है जिसका शिल्प नेहरू ने तैयार किया है।

उच्च-मध्य वर्ग और ऊँची जाति के लोगों से मिल कर बनी मेरी पीढ़ी इंदिरा गाँधी द्वारा थोपे गये राष्ट्रीय आपातकाल के दौर (जून, 1975 से जनवरी, 1977) में जवान हुई। आधुनिकीकरण की पीछे से चली आ रही प्रक्रिया के लाभार्थियों के तौर पर हमारे सामने जो प्रतिमान रखा गया वह एक ऐसी सेकुलराना पहचान का था जिसमें कुछ हिस्सा हमने स्वयं चुना था और कुछ हिस्सा हमें विरासत में मिला था। इस पहचान का एक अहम लक्षण यह भी था कि इसमें जाति के सत्य पर पर्दा डाल दिया गया था और वर्ग की अहमियत को घटा कर दिखाया गया था। हम उस पहली पीढ़ी की नुमाइंदगी कर रहे थे जिसे जाति द्वारा निर्धारित अपने इतिहास का दमन करने के लिए ज़रूरी भौतिक और मानसिक साधन मुहैया कराए गये थे। हम यह बात मान बैठे थे और इस पर पूरी संजीदगी से यक़ीन करते थे कि हम जाति से मुक्त हो चुके हैं। चूँकि यह विश्वास एक गहरा और सार्वभौम नैतिक निकष बन चुका था, इसलिए हम यह देखने में असमर्थ थे कि इस भ्रम को पहचान पाने की कूवत हमें अपनी जाति के अवस्थान (लोकेशन) से ही हासिल हुई है, और यह भी कि हमारी प्रतिक्रिया भी जाति के द्वारा ही निर्धारित हो रही थी। जहाँ तक वर्ग का प्रश्न है तो उससे हमने ख़ुद को यह यक़ीन दिला कर निगाह फेर ली थी कि हम दौलत के पीछे नहीं भाग रहे बल्कि केवल सुरक्षा ढूँढ़ना चाहते हैं। इससे हमें यह विश्वास हो गया था हम इसके प्रभावों से सुरक्षित रहेंगे। हम यह नहीं सोचते थे कि इससे हम वर्गहीन हो जाएँगे, बल्कि हमें अपनी उच्च-मध्यवर्गीय हैसियत एक प्रकार की सौम्य-सी नियति लगती थी। और फिर नवाँ दशक एक सुनामी की तरह आया जिसने हमारी कमसिन निश्चितताओं की धज्जियाँ उड़ा कर रख दी। भारतीय अर्थव्यवस्था, राजनीति और समाज में मूलभूत बदलाव की सुर्री छोड़ कर बाज़ार-मण्डल-मस्जिद से भरे इस दशक ने हमारे सोचने की आदतों में आमूल बदलाव कर डाला। इस दशक के शुरुआती बरसों के दौरान दिमाग़ में फूटती अनेक वैचारिक बग़ावतों में जाति की इस पुनर्कल्पना का प्रकटीकरण भी शामिल था।[5] मंथन का यही दौर था जब मेरा कुमुद पावड़े की कहानी से सामना हुआ और जिसने फिर मुझे अपनी कहानी पर दुबारा सोचने के लिए मजबूर कर दिया।

संदर्भ

अर्जुन डांगले (सं.)(1992), *पॉयजन्ड ब्रेड : ट्रांसलेशंस फ्रॉम मॉडर्न मराठी दलित लिटरेचर,* ऑरिएंट ब्लैकस्वान, नयी दिल्ली.

अर्जुन अप्पादुरै (1988), 'पुटिंग हायरार्की इन इट्स प्लेस', *कल्चरल ऐंथ्रोपोलॉजी,* 3 (1).

कुमुद पावड़े (1981), *अंतःस्फोट,* अंगद प्रकाशन, औरंगाबाद. (तीसरा संस्करण 2013 में सुगवा प्रकाशन, पुणे).

विवेक धारेश्वर (1993), 'कास्ट ऐंड द सेकुलर सेल्फ़', *जर्नल ऑफ़ आर्ट्स ऐंड आइडियाज़,* अंक, 25-26.

[5] इसके एक और अंतर्दृष्टिपूर्ण एवं प्रभावशाली उदाहरण के लिए देखें, विवेक धारेश्वर (1993) : 219-33.